बाल दिवस
14 नवंबर

स्कूलों को खूब मजेदार होना चाहिए

मेहमान कलम

अरविंद गुप्ता

शिक्षा में नए-नए प्रयोगों के साथ फिनलैंड ने अपने स्कूलों को तब्दील कर दिया है फनलैंड में। ताज्जुब है कि हर बदलाव के लिए विदेशों की तरफ मुंह देखने वाले हम हिंदुस्तानियों की निगाह इस तरफ क्यों नहीं जाती...

भारत में ज्यादातर गरीबों के बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं। 1990 के बाद से सरकार ने जान-बूझकर इन स्कूलों के बजट में कटौती की और उन्हें बेहाल बनाया। अब सरकार इन्हें खुलेआम निजी संस्थाओं को बेच रही है। केंद्रीय कर्मचारी संगठित हैं, वो चक्का जाम कर सकते हैं इसलिए सरकार ने उनके बच्चों के लिए 1200 केंद्रीय विद्यालय खोले हैं। ग्रामीण इलाकों में उन्नत खेती करने वालों ने जब अपनी जुबान बुलंद की तो राजीव गांधी ने हरेक जिले में एक नवोदय विद्यालय खोला जिनकी संख्या कोई 500 होगी। अब देश में तीन समानांतर सरकारी स्कूल हैं- म्युनिसिपल, केंद्रीय और नवोदय। निजी स्कूलों को तो छोड़ ही दीजिए।

इन स्कूलों में सरकार सालाना प्रति बालक कितना खर्च करती है? केंद्रीय विद्यालयों में 35,000 रुपए प्रति बालक, नवोदय में 85,000 रुपए और म्युनिसिपल स्कूलों में मात्र 4,000 रुपए! इन केंद्रीय और नवोदय विद्यालयों में कुल मिलाकर देश के 1 प्रतिशत से भी कम बच्चे पढ़ते हैं। अधिकांश बच्चे म्युनिसिपल स्कूलों में पढ़ते हैं, जिनकी हालत दयनीय है।

कैसे सुधरें हालात

इलाहाबाद हाई कोर्ट के जस्टिस अग्रवाल ने कुछ साल पहले एक क्रांतिकारी जजमेंट दिया। सरकारी स्कूल इसलिए खराब और उपेक्षित हैं क्योंकि समर्थ और संपन्न अपने बच्चों को इन स्कूलों में नहीं भेजते हैं। उन्होंने अपने बच्चों के लिए उम्दा निजी स्कूलों की व्यवस्था कर ली है। समर्थ वर्ग की सरकारी स्कूलों में कोई दिलचस्पी और हिस्सेदारी नहीं बची है। सरकारी स्कूलों की हालत सुधारने का सिर्फ एक तरीका है -सभी सरकारी कर्मचारियों और अफसरों को, सरकारी स्कूलों में बच्चों को पढ़ाने भेजना अनिवार्य हो। फिर देखें- टीचर समय पर आएंगे, स्कूल में शौचालय और पीने का पानी उपलब्ध हो जाएगा और मां-बाप की हिस्सेदारी से स्कूल धीरे-धीरे चमक उठेगा!

1964 में कोठारी आयोग ने भी एक अच्छी सिफारिश दी थी कि बच्चा चाहे गरीब का हो या रईस का, हर बच्चा अपने पड़ोस के स्कूल में जाए। उससे समता बढ़ेगी, सबको एक-समान मौका मिलेगा। निजी स्वार्थों ने कोठारी आयोग और जस्टिस अग्रवाल की सिफारिशों को पूरी तरह नजरअंदाज कर दिया।

मुल्क छोटा सबक बड़ा

शायद हम एक छोटे मुल्क फिनलैंड से कुछ सबक सीख सकें। फिनलैंड एक ऐसा देश है जिसने सार्वजनिक शिक्षा में अपना विश्वास बरकरार रखा है। आज फिनलैंड के सार्वजनिक स्कूल दुनिया में अव्वल नंबर पर हैं। तीस बरस पहले उनकी शिक्षा व्यवस्था बहुत चरमराई हुई थी। 1980 में फिनलैंड की आबादी मात्र 50 लाख थी। तब वहां पर लोगों ने अपनी शिक्षा व्यवस्था को दुरुस्त करने की सोची। सबसे पहले उन्होंने सारे निजी टीचर ट्रेनिंग कॉलेज बंद कर दिए और यह काम आठ केंद्रीय यूनिवर्सिटीज को सौंपा गया। फिनलैंड ने सभी निजी स्कूल भी बंद कर दिए और अपने सभी बच्चों को समान उच्च-स्तरीय स्कूली शिक्षा देने की बात ठानी। इस छोटे से मुल्क के लोगों में समता और न्याय की भावना कूट-कूटकर भरी थी। अब वहां की शिक्षा में कांपटीशन नहीं सहयोग पर जोर था।

छोटे बच्चे बड़ी होशियारी

फिनलैंड ने शिक्षकों के सामजिक स्तर को बहुत ऊंचा उठाया। यह बेहद अहम बात है। आज फिनलैंड के सबसे मेधावी छात्रों की सबसे बड़ी ख्वाहिश प्राथमिक स्कूल के शिक्षक बनने की है। सेकेंडरी स्कूल के बाद टॉप के 10 प्रतिशत बच्चे, स्कूल शिक्षक बनने के लिए देश की सबसे कठिन परीक्षा से गुजरते हैं। भारत में हम उसकी तुलना आईआईटी जेईई परीक्षा से ही कर सकते हैं। उनकी टीचर ट्रेनिंग बेहद प्रोफेशनल और कठिन होती है। फिनलैंड में किसी एलिमेंट्री स्कूल टीचर की सामाजिक प्रतिष्ठा की तुलना आप भारत में एमबीबीएस, आइएएस और आईआईटी से कर सकते हैं!

नहीं लेते कोई परीक्षा

बात कठोर है पर प्रतीत यही होता है कि भारत में सभी स्कूल बोर्ड अब सिर्फ सर्टिफिकेट छापने का काम करते हैं। असली पढ़ाई में उनकी कोई रुचि नहीं बची है। सीबीएसई के मूल्यांकन में टीचर अपना बहुमूल्य समय बेकार के फॉर्म भरने में व्यर्थ करते हैं और अच्छे शिक्षण के लिए बहुत कम समय ही बचता है। फिनलैंड में इसका उल्टा है। 16 वर्ष की आयु तक वहां बच्चों की कोई परीक्षा नहीं ली जाती। स्कूलों और शिक्षकों को पूर्ण स्वायत्ता दी जाती है। वहां लोग मानते हैं कि स्कूल बच्चों के लिए मजे और खुशी की जगह होनी चाहिए। बच्चे स्कूल में अपनी असली रुचि को पहचानें। स्कूल का काम बच्चों की रुचियों को आगे बढ़ाना हो इसलिए उन पर बेहूदा परीक्षाओं का बोझ क्यों लादा जाए। उन्होंने टीचर्स की गुणवत्ता को बढ़ाया है और बच्चों के परीक्षण को न्यूनतम रखा है।

कड़क होने का क्या लाभ

फिनलैंड में टीचर्स को चुनौतीपूर्ण जिम्मेदारियां दी गई हैं, इंस्पेक्टरों को नहीं। शिक्षक अपने से बेहतर शिक्षकों से सीखते हैं और स्कूल अपने से अच्छे स्कूलों से सीखते हैं। फिनलैंड में सभी शिक्षकों की एक सशक्त यूनियन है। बहुत से देशों ने स्कूलों में सुधार के अलग पथ अपनाए हैं, जिनके नतीजे काफी विनाशकारी साबित हुए हैं। स्कूलों को बेहतर बनाने के लिए कई जगह बहुत कठोर नियम-कानून लागू किए गए हैं। स्कूलों के ऊपर बाबुओं ने अपना शिकंजा कसा है -बायोमेट्रिक अटेंडेंस, हर जगह सीसीटीवी, स्कूल के घंटों में बढ़ोत्तरी, खराब टीचर्स की छुट्टी आदि। पर क्या कुछ असर हुआ है? बस यही न कि इन तौर-तरीकों से टीचर्स पर पुलिसिंग बढ़ी है और उनपर विश्वास घटा है।

हर परीक्षा पार

दुनिया की एक सबसे कठिन परीक्षा है पीआइएसए (प्रोग्राम फॉर इंटरनेशनल स्टूडेंट्स असेसमेंट)। इसमें किसी देश के सरकारी स्कूलों के 15 वर्षीय बच्चे ही भाग ले सकते हैं। सामान्यतः इस परीक्षा में जापान, दक्षिण कोरिया और चीनी बच्चे ही टॉप पर रहते थे। क्योंकि इन देशों में कोचिंग क्लासेज भरपूर हैं और रटने की परंपरा है। फिनलैंड में परीक्षा पर बहुत कम जोर है इसलिए वहां के बच्चे कभी पीआइएसए में नहीं बैठे। फिर फिनलैंड की सरकार ने सोचा-देखते हैं कि हमारे बच्चे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कैसा करते हैं। 12 साल पहले पहली बार फिनलैंड के बच्चे पीआइएसए में बैठे। उन्होंने इस परीक्षा में सबको पीछे छोड़ा। पिछले 10 सालों में वो सबसे आगे रहे हैं। 5 वर्ष पहले भारत सरकार ने हिमाचल प्रदेश और तमिलनाडु-दो राज्य जहां सरकारी स्कूल कुछ बेहतर हैं उनके बच्चों को पीआइएसए में बैठाया। 80 देशों में से हमारे बच्चे 79वें स्थान पर रहे। हमसे नीचे सिर्फ कजाखिस्तान था!

(आईआईटी से इंजीनियरिंग स्नातक अरविंद गुप्ता ने कारपोरेट नौकरियों को छोड़कर आदिवासी बच्चों को खेल-खेल में विज्ञान सिखाने की राह चुनी। वे मुक्त ज्ञान के पैरोकार हैं और उनकी वेबसाइट www.arvindguptatoys.com सबके लिए सरल विज्ञान सीखने और लगभग हर विषय पर मुफ्त किताबों का खुला खजाना है)

बस मार-धाड़ से क्या होगा

बॉलीवुड बाइट

क्यूट और बबली किरदार निभाने वाली आलिया भट्ट जल्द नजर आएंगी एक्शन करती...

आलिया भट्ट के खाते में रोचक फिल्मों के प्रोजेक्ट हैं, जिनमें से एक 2019 में प्रस्तावित 'ब्रह्मास्त्र' है। अमिताभ बच्चन और रणबीर कपूर जैसे कलाकारों से लैस होने के चलते माना जा रहा है कि इस फिल्म का स्केल बहुत बड़ा रहने वाला है। महाभारत काल में ब्रह्मास्त्र विध्वंसक अस्त्र का नाम हुआ करता था। लिहाजा उम्मीद है कि यह एक्शन से भरपूर फिल्म होगी। आलिया इशारों में इसकी पुष्टि भी करती हैं। आलिया ने अब तक एक भी एक्शन फिल्म नहीं की है। ऐसे में यह प्रोजेक्ट उनके उस इंतजार को पूरा करता है। हालांकि आलिया विशुद्ध एक्शन फिल्म नहीं करना चाहतीं। एक्शन फिल्म में काम करने की उनकी अपनी शर्त है। आलिया उसे बयां करती हैं, 'मैं विशुद्ध एक्शन फिल्म नहीं करूंगी। फिल्म में एक्शन के साथ-साथ मनोरंजन के भी सभी तत्वों का मिश्रण होना चाहिए। हर सीन में दुश्मनों की हड्डियां ही तोड़ती नजर आऊं, तो पर्दे पर वैसा करती मैं खुद को देख भी नहीं पाऊंगी।'

आलिया कहती हैं, 'मुझे नहीं लगता कि दर्शक अभी इसके लिए तैयार हैं कि अभिनेत्रियों को फिल्म में सिर्फ मार-धाड़ करते हुए ही दिखाया जाए। 'सीता और गीता' इसलिए सफल हुई क्योंकि उसमें हेमा मालिनी के एक्शन के साथ-साथ कॉमेडी का भी तड़का था।'

मुंबई ब्यूरो

दिल की बात सुन रहा है रेडियो

खास मुलाकात

अपने लंबे कॅरियर में विद्या बालन ने कई हिट फिल्में दी हैं। अब वे 'तुम्हारी सुलु' में लेट नाइट आरजे की भूमिका निभा रही हैं और इसको लेकर बेहद उत्साहित हैं। सिनेमा में कहानियां कहने के तरीके में आए बदलाव, कामकाजी महिलाओं की दिक्कतों समेत कई पहलुओं पर उन्होंने बात की स्मिता श्रीवास्तव से...

पिछले कुछ अर्से से कहानियां महिलाओं के नजरिए से कहने का चलन शुरू हुआ है। आप क्या कहना चाहेंगी?

फिल्में समाज का आईना होती हैं। समाज में बदलाव परिलक्षित हो रहे हैं, तभी हम सिल्वर स्क्रीन पर उसे दिखा पाते हैं। फिल्म देखकर लोग प्रेरित भी होते हैं। हीरो के नजरिए की ढेरों कहानियां आ चुकी हैं। पहले महिलाओं के किरदार बहन, प्रेमिका, बीवी, मां, दादी या नानी तक सीमित थे। मगर अब दायरा बढ़ गया है। महिलाएं अब बतौर स्टूडेंट या प्रोफेशनल भी हैं। हमारे पास उनकी ढेरों कहानियां है। धीरे-धीरे हम समाज के बंधनों को तोड़-मरोड़ रहे हैं। उसकी वजह से कई नए हीरो मिल रहे हैं। इससे तात्पर्य महिला और पुरुष दोनों से है। उनकी कहानियां रोमांचक, दिलचस्प और भावपूर्ण होती हैं। 'दंगल' में फोगाट बहनों की कहानी प्रेरणादायक है। यह महज बानगी है। सही मायनों में अब औरतों के नजरिए को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। एक पहलू यह भी है कि अब महिलाओं को अपनी भागीदारी का एहसास है। वे अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ सकती हैं। यही सब सिनेमा में प्रदर्शित हो रहा है। वैसे हर औरत की जिंदगी अलग होती है तभी मैं विविधतापूर्ण किरदार निभा पाई।

'तुम्हारी सुलु' में महिलाओं की आकांक्षाओं को किस तरह से उकेरा गया है?

फिल्म में कोई संदेश नहीं है और न ही महिलाओं की महत्वाकांक्षाओं का बचाव किया जा रहा है। सुलु एक खुशमिजाज गृहणी है। उसे देर रात की आरजे का जॉब मिल जाता है। उसमें जिंदगी को लेकर उत्साह है। नई चीजों को करने में उसकी दिलचस्पी है। वह हंसती-मुस्कराती है। घरेलू महिला के नौकरीपेशा होने पर घर में बदलाव होना स्वाभाविक है। सुलु की जिंदगी में भी बदलाव आता है। कुल मिलाकर सामान्य जीवन की यथार्थता दिखाई गई है। यह हैप्पी फिल्म है। मैं यही कहूंगी कि अगर आपका मूड खराब है तो थिएटर आकर 'तुम्हारी सुलु' देखें, मूड सुधर जाएगा। अगर मूड अच्छा ही है तो आप और खुश हो जाएंगे।

आप कितनी महत्वाकांक्षी रही हैं?

मैं जुनूनी हूं। मेरा एक ही सपना था एक्टर बनना। मैं उस सपने को जी रही हूं। मैं बतौर कलाकार हर लम्हे का लुत्फ लेती हूं। किरदार की तैयारी से लेकर शूटिंग, प्रमोशन तक। महत्वाकांक्षी होने पर लक्ष्य होते हैं। साल में कितनी फिल्में करनी हैं? कितने पैसे कमाने हैं? किसके साथ काम करना है? यह मेरे लिए मायने नहीं रखता। मैं अपनी एक्टिंग की भूख कायम रखना चाहती हूं।

शादीशुदा नौकरीपेशा स्त्री के लिए घर और कॅरियर में संतुलन साधना कितना मुश्किल होता है?

औरतें कामकाजी हो गई हैं। अब वे भी पुरुषों के समकक्ष काम और धन अर्जित कर रही हैं। उनके काम को आप कमतर नहीं आंक सकते। मुझे लगता है कि पुरुषों को घरेलू काम में बराबर हाथ बंटाना चाहिए। मैं ऐसे कुछ परिवारों से परिचित हूं जहां पुरुष महिलाओं के काम में हाथ बंटाते हैं। मुझे उम्मीद है कि यह बदलाव तेजी से होगा। वैसे ये हालात कमोबेश हर जगह हैं। विदेश में घरेलू सहायिका नहीं होती। घरेलू काम खुद ही करने पड़ते हैं। फिर भी वहां मर्द मदद नहीं करते। मैं कुछ समय पहले जापान गई थी। वहां पर हमारी टूर गाइड महिला थी। वह सुबह से शाम तक हमारे साथ थी। उसने बताया कि घर जाकर सब काम करना है। मैंने पूछा कि पति मदद नहीं करते? बोली नहीं। मेरा मानना है कि गृहणियां अपने काम की कद्र खुद नहीं करतीं। खुद को कहेंगी मैं सिर्फ हाउसवाइफ हूं। हाउसवाइफ होना बड़ी जिम्मेदारी है तभी बाकी सदस्य अपना काम सुगमता से कर पाते हैं।

आप घर और कॅरियर में कैसे संतुलन बनाकर चलती हैं?

ईश्वर के आशीर्वाद से मैं सुविधा संपन्न हूं। शूटिंग पर रहने के दौरान घर का दायित्व संभालने के लिए लोग मौजूद हैं। घर संभालने को लेकर मेरे पति की मुझसे अपेक्षाएं नहीं हैं। न ही मैं उनसे यह अपेक्षा रखती हूं। दोनों मिल-जुलकर गृहस्थी की गाड़ी चलाने में यकीन रखते हैं। मेरा परिवार मेरी प्राथमिकता है। मेरा खाली वक्त परिवार के साथ ही गुजरता है। मैंने शादी से पहले और अब काम और परिवार में हमेशा संतुलन रखा। मैं अमूमन रविवार को काम नहीं करती। पहले भी नहीं करती थी। रविवार का वक्त परिवार का होता है। हां, अगर शूटिंग लोकेशन रविवार को ही मिलती है तो कर लेती हूं।

'तुम्हारी सुलु' में आप साड़ी में ही हैं। साड़ी आप सार्वजनिक कार्यक्रमों में भी पहनती हैं। साड़ी का शौक आपको कब और कैसे चढ़ा?

साड़ी की मुरीद तो मैं बचपन से हूं। मेरे बचपन में मां सिर्फ साड़ियां पहनती थीं। हमारे बड़े होने के बाद सलवार-सूट वगैरह पहनने लगीं। लिहाजा मेरे लिए औरत की खूबसूरती साड़ी से जुड़ी है। साड़ी का एक विजन है। कांजीवरम या कॉटन में खुले बाल, माथे पर बिंदिया, कानों में झुमके। उससे अलग खूबसूरती झलकती है। पहली बार मैंने पांच साल की उम्र में साड़ी पहनी थी। उसकी फोटो भी है मेरे पास। मां बताती हैं कि साड़ी पहनाने के लिए मैंने उन्हें परेशान कर दिया था। आखिरकार एक दिन उन्होंने मुझे साड़ी पहनाई। फिर उसकी फोटो भी निकाल ली, तब से वह शौक कायम है।

साड़ी आपकी पर्सनालिटी का अहम हिस्सा है, जो हमारी संस्कृति को भी दर्शाती है। क्या फिल्म में आप उसका भी प्रमोशन कर रही हैं?

मैं साड़ी को प्रमोट नहीं कर रही। मुझे साड़ी पसंद है इसलिए उसे पहनती हूं। मैं सोसाइटी या कल्चर के लिए कुछ नहीं कर रही। लोगों को लगता है कि मैं पारंपरिक परिधान का संरक्षण कर रही हूं मगर मैं यह सब सोचकर साड़ी नहीं पहनती।

फिल्म में आपका रेडियो पर साड़ी वाली भाभी शो है। यह 'लगे रहो मुन्नाभाई' के आरजे से कितना अलग है?

दोनों फिल्मों के आरजे में कोई समानता नहीं है। इस फिल्म में मेरा किरदार शो में रूमानी अंदाज में बोलता है। वह खिलंदड़ और मस्तमौला है। साड़ी से उसके काम का कोई लेना-देना नहीं है। उसकी पहचान उसका काम है। मेरे हिसाब से आधुनिकता का अर्थ है सोच का आधुनिक होना। मैं अनेक लोगों को जानती हूं जो तथाकथित आधुनिक कपड़े पहनते हैं। यद्यपि उनकी सोच पिछड़ी और दकियानूसी है। 'लगे रहो मुन्नाभाई' को 11 साल हो गए हैं। मुझे खुद याद नहीं कि उसे कैसे प्ले किया था। दर्शकों को जरूर गुड मार्निंग कहने का मेरा अंदाज याद है। उस समय रेडियो जॉकी को लेकर मैंने रिसर्च की थी। रेडियो स्टेशन गई थी। वहां उनके कामकाज का तरीका देखा था। 'तुम्हारी सुलु' के लिए ऐसी कोई तैयारी नहीं की।

लेट नाइट शो में ज्यादातर प्रेम संबंधों की समस्याएं बयां होती हैं? अभी तक उन समस्याओं से निजात नहीं मिल पाई है?

अब संतुष्टि का भाव नहीं रह गया है। यही समस्या संबंधों में आ रही है। आप बेहतरीन की खोज में रहते हैं। कई बार हम अपनी समस्याएं किसी से साझा नहीं कर पाते। ऐसे लोगों के लिए रेडियो उम्दा विकल्प है। आप निडर होकर अपनी बात कह सकते हैं। अपनी पहचान जाहिर करने की भी वहां जरूरत नहीं है। उसके लिए कोई शुल्क भी नहीं देना है।

आपने पर्दे पर काफी रोमांस किया है। ऑनस्क्रीन रोमांस में कितना बदलाव पाती हैं?

अब रोमांस रियलिस्टिक हो गया है। सुलु की शादी को 12 साल हो गए हैं। उसके बावजूद उनकी शादी में रोमांस कायम है। यह रोमांस पहाड़ों पर जाकर गाने और उछलने-कूदने वाला नहीं है। घरेलू कामकाज के बीच उनमें रोमांस होता है। अब रियलिस्टिक फिल्में बन रही हैं। लिहाजा वैसा रोमांस देखने का मौका मिल रहा है। मुझे तो 'सिलसिला' जैसी फिल्मों का रोमांस भी भाता था।

किताबों की नदी पर फिल्मों की कश्ती

इनसाइड स्टोरी

इन दिनों किताबों पर खूब फिल्में बनाई जा रही हैं। यह चलन नया नहीं है। पहले भी कई औपन्यासिक कृतियों पर फिल्में बनाई जा चुकी हैं। स्मिता बता रही हैं कि किताबों के प्रति फिल्मकारों के आकर्षण की हैं कुछ खास वजहें, जिनको सफलता का फॉर्मूला मानने में नहीं है कोई दो राय...

अक्षय कुमार पत्नी ट्विंकल खन्ना की किताब 'लीजेंड ऑफ लक्ष्मी प्रसाद' पर 'पदमन' बना रहे हैं, तो आलिया भट्ट की 'राजी' उपन्यास 'कॉलिंग सहमत' पर बनाई जा रही है। हाल में हिट रही 'बरेली की बर्फी' भी फ्रेंच किताब 'इंग्रीडिएंट्स ऑफ लव' पर बनी थी। किताबों पर फिल्में बनाने का ट्रेंड एवरग्रीन है। पहले भी 'गाइड', 'तीसरी कसम', 'साहब बीवी और गुलाम', 'अर्थ' जैसी तमाम फिल्में अलग-अलग उपन्यासों पर बन चुकी हैं।

फिल्म निर्देशक और लेखक अश्विनी अय्यर तिवारी के अनुसार, 'अक्सर हम मान लेते हैं कि यदि कोई फिल्म किसी साहित्य पर बनी है तो वह गंभीर होगी। वहीं कुछ फिल्म समीक्षक मानते हैं कि फिल्म निर्माता-निर्देशकों के पास यदि कहानी की कमी हो जाती है तो वे साहित्य की तरफ देखते हैं। हालांकि कुछ औपन्यासिक कृतियां पाठकों को इतना बांध लेती हैं कि वे भी उसे फिल्मी पर्दे पर जीवंत होते हुए देखना चाहते हैं।

जरूरी है साहित्य की समझ

अंग्रेजी उपन्यासकार शेक्सपियर की कृतियों पर अलग-अलग भाषाओं में सौ से भी अधिक फिल्में बन चुकी हैं। निर्माता-निर्देशक आज भी उनकी कहानियों के दीवाने हैं। निर्देशक विशाल भारद्वाज की 'मकबूल', 'ओमकारा', 'हैदर' शेक्सपियर के नाटकों पर ही आधारित हैं। किसी सिने प्रोग्राम में विशाल भारद्वाज ने कहा था, 'शेक्सपियर की कहानियों में प्यार, ईर्ष्या, धोखा, बदला, हार-जीत आदि जैसे कई अलग-अलग मनोभावों के रंग दिखाई पड़ते हैं। ऐसे रंग किसी व्यक्ति की निजी जिंदगी में भी दिखते हैं। कुछ मनोभावों का तो मैं खुद भी गवाह रहा हूं। इसलिए उनके नाटकों पर मैंने फिल्में बनाईं।' विशाल ने रस्किन बॉन्ड के उपन्यासों पर भी 'ब्लू अंब्रेला' और 'सात खून माफ' बनाईं। लेखक रस्किन बॉन्ड के अनुसार किसी भी किताब पर फिल्म बनाने के लिए फिल्मकार के पास साहित्य की अच्छी समझ होनी चाहिए, अन्यथा फिल्म बनाने में कहानी का मर्म मर जाता है।

अलग होता है दर्शकवर्ग

इंडस्ट्री में कहानियों को लेकर इन दिनों तीन तरह के ट्रेंड्स दिखाई पड़ रहे हैं। एक बायोपिक, दूसरा सीक्वल और तीसरा उपन्यास की कहानियों पर फिल्में बनाना। राजकपूर, वी. शांताराम, बिमल रॉय, गुरुदत्त, गोल्डी आनंद आदि जैसे निर्देशक उपन्यासों पर फिल्में बनाने में माहिर थे। 'तेजाब', 'रंग दे बसंती' जैसी हिट फिल्मों की पटकथा लिख चुके कमलेश पांडे बताते हैं, 'साहित्य पर सिनेमा बनाते समय एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि किताबें पढ़ने वाले और सिनेमा देखने वाले दो अलग वर्ग के लोग भी हो सकते हैं। किताब मनोवैज्ञानिक माध्यम है। विचारों की ऊहापोह को इसके जरिए दिखाया जा सकता है लेकिन ऑडियो-विजुअल मीडियम होने के कारण आप क्या सोच रहे हैं, फिल्म में उसे नहीं दिखा सकते। फिल्म में कहानी को विजुअली दिखाना और संवाद दोनों महत्वपूर्ण हैं।'

दोनों की अपनी सीमाएं

देवानंद ने मशहूर लेखक आर. के. नारायण के उपन्यास 'द गाइड' पर फिल्म बनाई 'गाइड'। उपन्यास की तरह यह फिल्म भी देश-विदेश में सराही गई, लेकिन आर. के. नारायण ने आत्मकथा 'माई डेज' में लिखा, 'वादा करने के बावजूद देवानंद ने किताब की तरह फिल्म नहीं बनाई।' दशरथ मांझी के जीवन पर कालजयी कृति 'पहाड़' लिखने वाले निलय उपाध्याय बताते हैं, 'किताब और सिनेमा दोनों अलग-अलग विधाएं हैं। किताब लिखने के लिए जिस पद्धति का प्रयोग होता है सिनेमा में उस पद्धति का प्रयोग नहीं होता। यदि हम फिल्म के लिए लिखते हैं, तो इसके लिए हमारे पास एक समीकरण होता है। सबसे पहले फिल्म की अवधारणा फिर हुक प्वॉइंट और क्लाइमेक्स के बारे में सोचा जाता है। यदि ये तीनों चीजें मिल जाती हैं तो सिनेमा बन जाता है। वहीं यदि हम किसी विषय को पुस्तक में उठाते हैं तो चीजों को देखने का नजरिया पूरी तरह बदल जाता है।'

समय की मांग है परिवर्तन

युवाओं के पसंदीदा लेखक चेतन भगत के उपन्यासों को निर्माता-निर्देशकों ने भुनाने की खूब कोशिश की। 'फाइव प्वॉइंट समवन' पर आधारित 'थ्री इडियट्स', 'थ्री मिस्टेक्स ऑफ माय लाइफ' पर आधारित 'काय पो छे', 'वन नाइट एट कॉलसेंटर' पर आधारित 'हैलो' और 'टू स्टेट्स' व 'हाफ गर्लफ्रेंड' पर इसी नाम से फिल्में बन चुकी हैं। चेतन भगत की तर्ज पर कई युवा कहानीकारों जैसे कि पंकज दुबे, दुर्जाय दत्त, रविंदर सिंह, सचिन गर्ग आदि लेखकों ने ऐसी कहानियां लिखनी शुरू कीं जो फिल्मी पटकथा के अनुकूल हों। सत्य व्यास के उपन्यास 'दिल्ली दरबार' पर भी फिल्म बनने की बात चल रही है। सत्य व्यास कहते हैं, 'युवाओं की लिखी कहानियों में फिल्मकारों को एक तैयार कथानक दिखता है। यदि इस जुगलबंदी से लेखकीय मूल्य बचा रहता है, तो इसमें कोई हानि नहीं दिखती है।'

रखना पड़ता है ख्याल

फ्रेंच उपन्यास 'द इंग्रीडिएंट्स ऑफ लव' से मैंने 'बरेली की बर्फी' के लिए सिर्फ आइडिया लिया। इसके बाद पूरी कहानी को भारतीय परिवेश में ढाला। रचनात्मक दृष्टिकोण से आइडिया को दोबारा सृजित करना आसान नहीं था। कोई भी लेखक अपने हिसाब से कहानी लिखता है लेकिन इसे शब्दशः फिल्मों में दिखाना संभव नहीं है। भारत में खासकर जीवनियों पर अधिक फिल्में बनी हैं। कई बार किताब तो आपको बहुत अच्छी लगती है लेकिन फिल्म में किताब से बिल्कुल अलग दुनिया दिखाई पड़ती है। किताब की काल्पनिक संरचना होती है। यदि इसे हम मूवी में ढालते हैं तो न सिर्फ कल्पना बल्कि दर्शकों का भी ख्याल रखना पड़ता है।

अश्विनी अय्यर तिवारी
फिल्म निर्देशक

अलग है रूपांतरण की विधा

मुख्य किरदार के साथ-साथ किताब के सार को लिख लिया जाता है। फिर उसे फिल्म की तर्ज पर लिखते हैं। इस क्रम में कई बदलाव करने पड़ते हैं, क्योंकि रूपांतरण एकदम अलग विधा है। इसका अलग व्याकरण होता है, जिसे लागू करना पड़ता है। शायद यही वजह होगी कि प्रेमचंद, भगवतीचरण वर्मा जैसे साहित्यकार हिट फिल्म स्क्रिप्ट लिख पाने में असफल रहे लेकिन कमलेश्वर, राही मासूम रजा जैसे कुछ साहित्यकार बढ़िया फिल्म लेखक भी बने।

कमलेश पांडे, फिल्म पटकथा लेखक

साहित्यिक समझ जरूरी

किताबों पर फिल्में बनाने के लिए फिल्मकारों के पास साहित्य की अच्छी समझ होनी चाहिए। फिल्मकार लेखक की कहानी को अपने मन-मुताबिक तोड़-मरोड़कर पेश नहीं कर सकते। विशाल के अलावा कुछ दूसरे फिल्मकार मेरे उपन्यासों पर फिल्में बनाना चाहते थे लेकिन हमारी बात नहीं बन पाई।

रस्किन बॉन्ड, लेखक

ये प्यार न होगा कम....
कमांडो
कैप्सूल व तेल
100% Herbal 100% Safe
20 कैप्सूल का मूल्य Rs. 160/-
ज्यादा फायदे के लिए कमांडो तेल का इस्तेमाल भी करें।
21 सालों से भरोसेमंद आयुर्वेदिक औषधि
हरेक मैडीकल स्टोर में उपलब्ध।
(M) 098973-59925, 098147-55205